

॥ ज्योतिर्गमय ॥

कालो हि दुरतिक्रमः

यथा शास्त्रं
तथा सिद्धिः ।

सूर्यसिद्धान्त या दृक्?

ज्योतिष-गणना, धर्मकृत्य और प्रमाण का
एक मीमांसात्मक अध्ययन

तिथिः
करणम्
उद्ववाहः
व्रत उपवासः
यात्रा च
चान्द्रेण
गृह्यते ॥

दृश्यमान ?
यथा वेध ?
या शास्त्रोक्त ?
किम् प्रमाणम् ?



॥ शास्त्रे प्रमाणम् ॥

त्रिस्कन्धज्योतिर्विद
आचार्य राजेश बैजवाल दैवज्ञ

॥ युक्त्या परीक्षणम् ॥

दृश्यमान ग्रह, गोलक और सूक्ष्म ग्रहस्थिति : धर्मकृत्योपयोगी गणना के विषय में एक मीमांसात्मक विचार

ज्योतिष-गणना के सम्बन्ध में आज एक सामान्य धारणा बना दी गयी है कि आकाश में दूरबीन, वेधशाला अथवा आधुनिक astronomical instruments से जो ग्रह जिस स्थान पर दिखाई देता है, ग्रह की वास्तविक स्थिति वही है और उसी को आधार बनाकर प्रत्येक प्रकार की ज्योतिषीय तथा धर्मकृत्योपयोगी गणना की जानी चाहिए। इस धारणा में एक अत्यन्त सूक्ष्म भेद की उपेक्षा हो जाती है—**दृश्य गोलक और उस गोलक से सम्बद्ध सूक्ष्म सत्ता का भेद।**

भारतीय दार्शनिक परम्परा में केवल स्थूल दृश्य पदार्थ को ही उसकी सम्पूर्ण सत्ता नहीं माना गया है। इन्द्रिय के विषय में इसका सुन्दर उदाहरण स्वयं हमारे शरीर में मिलता है। जब व्यवहार में पूछा जाता है कि “चक्षु कहाँ है?”, तब हम नेत्र अथवा नेत्रगोलक की ओर संकेत करते हैं। व्यवहार में वही चक्षु का स्थान माना जाता है। किन्तु भारतीय दर्शन में चक्षुरिन्द्रिय की सत्ता केवल उस स्थूल नेत्रगोलक में सीमित नहीं मानी जाती। नेत्रगोलक उसका **गोलक** है; इन्द्रिय की सूक्ष्म सत्ता उससे भिन्न है। इसीलिए स्थूल शरीर में इन्द्रिय का व्यवहारिक स्थान दिखाया जा सकने पर भी इन्द्रिय की सम्पूर्ण सत्ता को केवल उस स्थूल गोलक के साथ अभिन्न नहीं कर दिया जाता।

यही दृष्टान्त ग्रहों के विषय में भी विचारणीय है।

जो ग्रह हमें आकाश में किसी स्थूल भौगोलिक अथवा खगोलीय गोलक के रूप में दृष्टिगोचर होता है, उसका वह दृश्य स्थान निश्चय ही **व्यवहार के लिए ग्राह्य** है। ग्रहण का दर्शन करना हो, आकाश में ग्रह की प्रत्यक्ष स्थिति जाननी हो, सूर्यनारायण को अर्घ्य देना हो, किसी दृश्य खगोलीय घटना का तत्काल ज्ञान करना हो—इन सब प्रसंगों में प्रत्यक्षदृष्ट

ग्रहगोलक का ग्रहण करना ही स्वाभाविक और उचित है। वहाँ प्रत्यक्ष का अपना अधिकार है और उसके स्थान पर किसी अदृश्य सूक्ष्म कल्पना को लाकर प्रत्यक्ष व्यवहार को बदलना आवश्यक नहीं।

किन्तु प्रश्न तब उत्पन्न होता है जब हम पूछते हैं कि **ज्योतिषशास्त्र में ग्रह की वह स्थिति कौन-सी है जो धर्मकर्म के अदृष्टफल-साधक निर्णय में ग्रहणीय है?**

यह प्रश्न केवल इतना नहीं है कि “दूरबीन से ग्रह कहाँ दिखाई देता है?” क्योंकि जिस प्रकार चक्षुरिन्द्रिय को केवल उसके स्थूल गोलक से अभिन्न मानना उचित नहीं, उसी प्रकार ग्रह की ज्योतिषीय सत्ता को भी केवल उसके स्थूल दृश्य गोलक के साथ अभिन्न कर देना भारतीय ज्योतिष की सूक्ष्म परम्परा को पर्याप्त रूप से व्यक्त नहीं करता।

यहीं से सूर्यसिद्धान्तीय गणना के प्रमाणाधिकार का वास्तविक प्रश्न आरम्भ होता है।

दृश्य और सूक्ष्म के भेद को समझे बिना दृक्-गणित का सार्वत्रिकीकरण

दृक्-पक्ष का सबसे सामान्य तर्क यह है कि “जो दिखाई देता है वही ग्रह की वास्तविक स्थिति है।” किन्तु यह कथन स्वयं एक दार्शनिक पूर्वमान्यता पर आधारित है। इसमें यह मान लिया गया है कि **दृश्य गोलक ही ग्रह की ज्योतिषीय सत्ता का पूर्ण पर्याय है।**

भारतीय परम्परा में ऐसा सार्वत्रिक सिद्धान्त स्वीकार नहीं किया गया।

हमारे शरीर में नेत्रगोलक दिखाई देता है, किन्तु उससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जाता कि चक्षुरिन्द्रिय की सूक्ष्म सत्ता भी केवल उतनी ही है जितना स्थूल नेत्र दिखाई देता है। व्यवहार में गोलक का निर्देश होता है, परन्तु तत्त्वतः इन्द्रिय का विचार उसके सूक्ष्म स्वरूप से किया जाता है।

इसी प्रकार ग्रह के विषय में भी यह विचार किया जा सकता है कि **भौतिक वेध द्वारा ग्रह का स्थूल दृश्य गोलक ज्ञात हो सकता है, परन्तु ज्योतिषीय कर्मफल से सम्बद्ध ग्रह की सूक्ष्म स्थिति को केवल भौतिक उपकरणों से प्रत्यक्ष कर लेना सिद्ध नहीं होता।**

यहाँ “सूक्ष्म” शब्द का अर्थ किसी आधुनिक astronomical instrument से छूट जाने वाला कोई सामान्य भौतिक coordinate मात्र नहीं है। यहाँ सूक्ष्मता का आशय उस **ज्योतिषीय गणितीय स्थिति** से है जिसके आधार पर शास्त्र तिथि, काल, ग्रहयोग और उनसे सम्बद्ध अदृष्टफल का निर्णय करता है।

अतः प्रश्न यह नहीं है कि आधुनिक वेधशाला ग्रह को देख सकती है या नहीं। प्रश्न यह है कि—

क्या वेधशाला से प्राप्त दृश्य ग्रहस्थान ही धर्मशास्त्र द्वारा अपेक्षित ज्योतिषीय ग्रहस्थिति का सम्पूर्ण प्रमाण है?

यदि इस प्रश्न का उत्तर बिना शास्त्रीय प्रमाण के “हाँ” दे दिया जाए, तो दृक्-संवादिता को धर्मप्रमाणत्व के साथ अभिन्न कर दिया गया। यही वह स्थान है जहाँ मीमांसात्मक परीक्षण आवश्यक हो जाता है।

गोलक का व्यवहार और सूक्ष्म सत्ता का तात्त्विक भेद

भारतीय दर्शन में **गोलक** शब्द का प्रयोग अत्यन्त अर्थपूर्ण है। चक्षु का स्थूल स्थान नेत्रगोलक है। व्यवहार में हम उसी को चक्षु कहते हैं। कोई व्यक्ति पूछे कि “आपकी आँख कहाँ है?” तो हम सूक्ष्म इन्द्रिय का स्थान बताने के लिए कोई अमूर्त दार्शनिक व्याख्या नहीं करते, अपितु नेत्रगोलक की ओर संकेत करते हैं। इसका कारण यह है कि व्यवहार में गोलक ही इन्द्रिय का अधिष्ठान अथवा दृश्य उपकरण है।

परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि—

गोलक = इन्द्रिय की सम्पूर्ण सत्ता।

यही भेद ग्रह-विचार में भी उपयोगी है।

आकाश में जो ग्रहगोलक दृष्ट होता है, वह ग्रह के प्रत्यक्ष व्यवहार का आधार है। ग्रहण के समय सूर्य या चन्द्र का जो गोलक हमें दिखाई देता है, उसके दर्शन का निषेध कोई शास्त्रीय गणना नहीं करती। उलटे ग्रहण-दर्शन, ग्रहणकालीन स्नान, दान, जप, अर्घ्य आदि प्रत्यक्ष घटना से सम्बन्ध रखते हैं। वहाँ दृश्य ग्रह का व्यवहार आवश्यक है।

किन्तु जब प्रश्न हो —

किस तिथि में कौन-सा धर्मकर्म करना है?

तब प्रश्न केवल दृश्य गोलक का नहीं रह जाता।

यहाँ तिथि, नक्षत्र, योग, करण, ग्रहस्थिति आदि को शास्त्रीय गणना-पद्धति से ग्रहण करना होता है। और यदि शास्त्र ने उस प्रयोजन के लिए किसी विशिष्ट गणना-पद्धति को निर्दिष्ट किया है, तो केवल इसलिए कि कोई दूसरी गणना वर्तमान आकाशीय वेध से अधिक मेल खाती है, शास्त्रीय गणना को विस्थापित नहीं किया जा सकता।

सूर्यसिद्धान्त में कालगणना का प्रयोजन-विभाग

सूर्यसिद्धान्त स्वयं इस बात की पुष्टि करता है कि कालगणना को एक ही प्रकार से सर्वत्र प्रयुक्त नहीं किया जाता। वह कहता है —

चतुर्भिर्व्यवहारोऽत्र सौरचान्द्रार्क्षसावनैः ।

बार्हस्पत्येन षष्ठ्यब्दं ज्ञेयं नान्यैस्तु नित्यशः ॥

अर्थात् व्यवहार में सौर, चान्द्र, नाक्षत्र और सावन आदि विभिन्न कालमानों का अपना-अपना व्यवहार है।

यहाँ मूल बात केवल यह नहीं कि चार प्रकार के कालमान हैं। मूल बात यह है कि **उनका व्यवहार विषयानुसार है।** शास्त्र ने स्वयं यह नहीं माना कि एक ही प्रकार की गणना हर प्रयोजन में बिना भेद के लगा दी जाए।

और तिथि-व्रतादि के प्रसंग में सूर्यसिद्धान्त का अत्यन्त प्रसिद्ध वचन है —

तिथिः करणमुद्वाहः क्षौरं सर्वक्रियास्तथा ।

व्रतोपवासयात्राणां क्रिया चान्द्रेण गृह्यते ॥

अर्थात् तिथि, करण, विवाह, क्षौर, सर्वक्रिया तथा व्रत, उपवास और यात्रा आदि के लिए चान्द्रमान ग्रहण किया जाता है।

अतः धर्मकर्मोपयोगी काल का प्रश्न स्वयं सूर्यसिद्धान्त में एक विशिष्ट शास्त्रीय विषय के रूप में उपस्थित है। इसे केवल आधुनिक astronomical observation का सामान्य प्रश्न मान लेना सूर्यसिद्धान्त की विषय-व्यवस्था को ही बदल देना होगा।

बीजसंस्कार के विषय में विष्णुधर्मोत्तर का निर्णायक भेद

अब इस प्रश्न पर विष्णुधर्मोत्तर का वचन अत्यन्त महत्वपूर्ण हो जाता है—

यन्त्रवेधादिना ज्ञातं यद् बीजं गणकैस्ततः ।

ग्रहणादिपरीक्षेत न तिथ्यादिकदाचन ॥

यहाँ शास्त्र वेध का निषेध नहीं करता। बल्कि यन्त्रवेध आदि से प्राप्त बीज का एक विशिष्ट प्रयोजन स्वीकार करता है—**ग्रहणादि की परीक्षा।**

किन्तु उसी के साथ स्पष्ट निषेध रखता है—

न तिथ्यादिकदाचन।

अर्थात् उस बीज से तिथ्यादि का निर्णय नहीं करना चाहिए।

इस वचन की मीमांसात्मक शक्ति इसी में है कि यह **वेध और धर्मकर्म दोनों को स्वीकार करता है, परन्तु उनके अधिकार-क्षेत्र को अलग रखता है।**

यदि आधुनिक दृक्-पक्ष यह कहे कि वेध से ग्रह की स्थिति में अन्तर मिला, इसलिए उसी अन्तर को बीजसंस्कार बनाकर तिथि भी संशोधित कर देनी चाहिए, तो विष्णुधर्मोत्तर का यह स्पष्ट विषय-विभाग सामने आता है।

अर्थात्—

ग्रहण-परीक्षा के लिए ग्राह्य साधन को तिथिनिर्णय में स्वतः अतिदेश नहीं किया जा सकता।

यही वास्तविक मीमांसा है।

यह कहना आवश्यक नहीं कि वेध “गलत” है। कहना यह है कि—

वेध का प्रमाणाधिकार जिस प्रयोजन में शास्त्र ने स्वीकार किया है, उससे बाहर उसका स्वतः विस्तार सिद्ध नहीं।

दृष्ट और अदृष्ट का विभाग

निर्णयसिन्धु में उद्धृत वचन —

**अदृष्टफलसिद्ध्यर्थं यथार्कगणितं कुरु।
गणितं यदिदृष्ट्यर्थं तदृष्ट्युद्भवतः सदा॥**

इस विषय को और अधिक स्पष्ट करता है।

यहाँ गणना को उसके **फल और प्रयोजन** से जोड़ा गया है।

अदृष्टफल की सिद्धि के लिए अर्कगणित का निर्देश है, जबकि दृष्टफल के लिए दृक्-उद्भव गणना का।

अब व्रत, पर्व, उपवास आदि का फल किस प्रकार का है? वह प्रत्यक्ष भौतिक फल नहीं, अपितु धर्मशास्त्रीय **अदृष्टफल** है।

इसके विपरीत ग्रहण का दर्शन एक प्रत्यक्ष घटना है। सूर्यग्रहण लगा या नहीं, चन्द्रग्रहण दिखाई दिया या नहीं, सूर्य का प्रकाश किस प्रकार आच्छादित हुआ — ये सब प्रत्यक्ष विषय हैं।

इसलिए दोनों के लिए एक ही प्रमाण-पद्धति को अनिवार्य मानना स्वयं इस दृष्ट-अदृष्ट विभाग की उपेक्षा होगी।

ग्रहण के समय दृश्य ग्रह और धर्मकर्म के समय सूक्ष्म ग्रह

यहीं हमारे पक्ष का वह महत्वपूर्ण तत्त्व आता है जिसे सामान्य दृक्-विवाद में प्रायः छोड़ दिया जाता है।

जब सूर्यग्रहण अथवा चन्द्रग्रहण का **दर्शन** करना हो, तब हमें प्रत्यक्षदृष्ट सूर्य और चन्द्र का ही व्यवहार करना चाहिए। सूर्यनारायण को अर्घ्य देना हो, ग्रहण का प्रत्यक्ष स्पर्श अथवा मोक्ष देखना हो, किसी दृश्य घटना के तत्काल समय का निर्धारण करना हो — वहाँ प्रत्यक्ष गोलक ही व्यवहार का विषय है।

क्योंकि वहाँ साध्य ही **दृष्ट घटना** है।

परन्तु जब प्रश्न हो कि—

“इस तिथि में अमुक व्रत का अनुष्ठान किस प्रकार किया जाए?”

तब उद्देश्य किसी दृश्य गोलक का निरीक्षण करना नहीं है। यहाँ तिथि और उसके द्वारा निर्दिष्ट धर्मकर्म का प्रश्न है। यहाँ शास्त्रीय गणना का अधिकार आता है।

अतः एक ही ग्रह के सम्बन्ध में दो प्रकार का व्यवहार होना विरोधाभास नहीं है।

दृष्ट घटना के लिए दृश्य ग्रह।

अदृष्ट साधन के लिए शास्त्रविहित सूक्ष्म गणना।

यही इस भेद का सार है।

क्या भौतिक यन्त्र ग्रह की सूक्ष्म ज्योतिषीय स्थिति बता सकते हैं?

यहाँ एक और अत्यन्त आवश्यक सावधानी है।

भौतिक astronomical instruments ग्रह के दृश्य प्रकाश, position, angular separation, apparent longitude आदि को माप सकते हैं। यह उनकी अपनी दृष्टि और प्रयोजन के भीतर अत्यन्त उपयोगी है।

किन्तु यदि हम “ग्रह की सूक्ष्म स्थिति” से उस ज्योतिषीय स्थिति का अभिप्राय लेते हैं जो शास्त्रीय गणना द्वारा धर्मकर्मोपयोगी तिथि आदि में ग्रहणीय है, तो उसका निर्धारण केवल इसलिए आधुनिक यन्त्र से सिद्ध नहीं हो जाता कि यन्त्र अधिक सूक्ष्म है।

क्योंकि—

यन्त्र की सूक्ष्मता और शास्त्रीय सूक्ष्मता एक ही प्रकार की सूक्ष्मता नहीं हैं।

एक यन्त्र भौतिक आकाशीय पिण्ड की स्थिति को सूक्ष्मता से माप सकता है। लेकिन उससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि उसने उस **ज्योतिषीय सत्ता** को भी माप लिया जिसके आधार पर शास्त्र अदृष्टफल का विधान करता है।

जैसे नेत्रगोलक को देखकर चक्षुरिन्द्रिय की सम्पूर्ण सूक्ष्म सत्ता का परिमाण निर्धारित नहीं किया जाता, वैसे ही दृश्य ग्रहगोलक का अत्यन्त सूक्ष्म astronomical measurement अपने-आप शास्त्रीय ज्योतिषीय ग्रहस्थिति का प्रमाण नहीं बन जाता।

यहाँ सूर्यसिद्धान्तीय ‘सूक्ष्मता’ का आशय

इस प्रसंग में “सूर्यसिद्धान्तीय ग्रह की सूक्ष्म स्थिति” का यहाँ अभिप्राय अधिक विशिष्ट है।

अभिप्राय यह है कि—

धर्मकर्म के लिए जिस ग्रहगणित को शास्त्र ने आधार बनाया है, उसकी स्थिति का निर्धारण उसी शास्त्रीय गणना-पद्धति से होगा।

उसमें बीजसंस्कार का प्रश्न भी शास्त्रविहित प्रयोजन के अनुसार ही होगा।

अतः “सूक्ष्म ग्रहस्थिति” का अर्थ यहाँ **धर्मकर्मोपयोगी ज्योतिषीय गणना-सत्ता** है, न कि कोई ऐसी भौतिक वस्तु जिसे आधुनिक telescope से देखे जाने की अपेक्षा की जा रही हो।

यह भेद रखना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि इसी से हमारा तर्क अधिक शास्त्रीय और अधिक अकाट्य बनता है।

अनित्य मुहूर्त और नित्य तिथ्यादि में भी भेद

इसी आधार पर हमें सभी गणनाओं को एक ही कोटि में रखने की आवश्यकता नहीं।

जहाँ किसी **तात्कालिक दृश्य घटना** का ज्ञान अपेक्षित है, वहाँ प्रत्यक्ष ग्रह का ग्रहण उचित है। जहाँ किसी क्षण की तत्काल दृश्य खगोलीय स्थिति जाननी है, जहाँ ग्रहण का स्पर्श या मोक्ष प्रत्यक्ष देखना है, जहाँ सूर्यनारायण को अर्घ्य देना है, वहाँ दृक्-ग्रह का व्यवहार स्वाभाविक है।

किन्तु नित्य अथवा नियमित धर्मकर्मोपयोगी तिथि-विचार में प्रश्न बदल जाता है।

एकादशी, अमावस्या, पूर्णिमा, संक्रान्ति-सम्बन्धी कर्म, श्राद्ध, व्रत, पर्व आदि का निर्णय केवल इसलिए आधुनिक दृक्-स्फुट के अनुसार बदल देना कि उससे वर्तमान आकाशीय स्थिति अधिक निकट आती है, तभी उचित होगा जब यह पृथक् प्रमाणित किया जाए कि शास्त्र ने उन्हीं धर्मकृत्यों के लिए उस दृक्-स्फुट को प्रमाण बनाया है।

अन्यथा सूर्यसिद्धान्तीय गणना को छोड़ने का आधार केवल **astronomical accuracy** नहीं बन सकता।

यही सिद्धान्त शुक्रास्त में भी लागू होता है

अब यही विवेक शुक्रास्त के विषय में लगाया जाए तो वर्तमान पञ्चाङ्ग-प्रणाली की एक बड़ी समस्या सामने आती है।

शुक्र के सूर्य के अत्यन्त निकट आने का आधुनिक astronomical calculation से कोई exact combustion time निकाला जा सकता है। यह भौतिक astronomical घटना के निर्धारण का प्रश्न है।

किन्तु उससे यह प्रश्न अलग है कि—

विवाहादि मांगलिक कर्मों को रोकने वाला शास्त्रीय शुक्रास्त कब माना जाए?

यदि दोनों को अभिन्न कर दिया जाए तो astronomical combustion को धर्मशास्त्रीय निषेध का प्रमाण मान लिया गया।

परन्तु यह निष्कर्ष पृथक् प्रमाण चाहता है।

मुहूर्तशास्त्र में शुक्र के अस्तत्व के साथ बाल्य और वार्धक्य आदि का भी विचार किया जाता है। प्रसिद्ध वचन है—

पुरः पश्चाद् भृगोर्बाल्यं त्रिदशाहं च वार्धकम्।

पक्षं पञ्चदिनं ते द्वे गुरोः पक्षमुदाहते॥

अर्थात् परम्परागत मुहूर्त-विचार में शुक्र के सम्बन्ध में केवल एक आधुनिक “combustion timestamp” नहीं, बल्कि शास्त्रीय अवस्था-विचार भी है।

अतः यदि किसी आधुनिक दृक्-पञ्चाङ्ग में किसी दिन शुक्रास्त लगाया गया है, तो केवल यह कह देना कि “उस समय शुक्र सूर्य के इतने निकट था” पर्याप्त नहीं। यह भी बताना होगा कि—

विवाहादि-वर्जन के लिए उस exact astronomical separation को शास्त्रीय शुक्रास्त मानने का प्रमाण कौन-सा है?

१३ अक्टूबर २०२६ का उदाहरण और प्रमाण की वास्तविक कसौटी

उदाहरणार्थ, यदि १३ अक्टूबर २०२६ को किसी ऑनलाइन दृक्-पञ्चाङ्ग में शुक्रास्त दिया गया हो और उसी समय उसके अनुसार सूर्य का स्पष्टांश $२५^{\circ}५७'$ कन्या तथा शुक्र का स्पष्टांश $१२^{\circ}१२'$ तुला दिया गया हो, तो दोनों में लगभग $१६^{\circ}१५'$ का अन्तर बैठता है।

यहाँ विवाद यह नहीं है कि गणित में $१६^{\circ}१५'$ का अन्तर निकाला जा सकता है या नहीं।

प्रश्न यह है—

इस अन्तर पर प्राप्त astronomical combustion को किस शास्त्रीय विधान के द्वारा विवाहादि धर्मकर्म-वर्जक शुक्रास्त माना गया?

यदि उत्तर केवल astronomical algorithm है, तो वह भौतिक गणना का आधार बताता है; धर्मकर्म-वर्जन का शास्त्रीय आधार अभी भी अपेक्षित है।

यही हमारे पक्ष की मूल कसौटी है।

अयनांश का प्रश्न भी इसी प्रमाण-मीमांसा के अधीन है

यही बात अयनांश पर भी लागू होती है।

सायन और निरयन राशि-व्यवस्था के बीच अन्तर निकालने के लिए अयनांश आवश्यक है। किन्तु अयनांश का कोई numerical value इसलिए अन्तिम शास्त्रीय प्रमाण नहीं हो जाता कि वह आधुनिक astronomical model से निकाला गया है।

यहाँ भी प्रश्न होंगे—

निरयन राशि-चक्र का reference-point क्या है?

उस reference-point को स्वीकार करने का प्रमाण क्या है?

उससे वर्तमान अयनांश की गणना किस सिद्धान्त से होगी?

चित्रापक्ष में चित्रा को reference मानने का विषय हो अथवा किसी अन्य अयनांश-पद्धति का विषय—हर जगह numerical calculation के साथ **reference की प्रमाणिकता** भी सिद्ध करनी होगी।

इसलिए लाहिड़ी अयनांश को केवल इसलिए शास्त्रीय रूप से अन्तिम नहीं कहा जा सकता कि उसे किसी प्रशासनिक या संस्थागत व्यवस्था में standard माना गया है। प्रशासनिक मानकीकरण और शास्त्रीय प्रमाणत्व अलग विषय हैं।

“दृक् अधिक सही है” — यह किस अर्थ में?

यहाँ दृक्-पक्ष के प्रति न्याय करना भी आवश्यक है।

यदि “अधिक सही” का अर्थ है—

वर्तमान दृश्य आकाशीय पिण्ड की स्थिति को अधिक निकटता से बताना,

तो उस अर्थ में आधुनिक astronomical गणना का अपना स्पष्ट प्रयोजन है।

लेकिन यदि “अधिक सही” का अर्थ यह बना दिया जाए—

अतः इसी गणना से प्रत्येक व्रत, पर्व, तिथि, मुहूर्त और धर्मकर्म का शास्त्रीय निर्णय भी करना चाहिए,

तो यह निष्कर्ष अतिरिक्त प्रमाण के बिना सिद्ध नहीं है।

यही कारण है कि हमारे पक्ष को आधुनिक astronomical calculation के विरुद्ध खड़ा करने की आवश्यकता नहीं है।

हमारा कथन इससे अधिक सीमित और अधिक शास्त्रीय है—

जिस विषय का प्रमाण प्रत्यक्ष है, वहाँ प्रत्यक्ष का अधिकार स्वीकार्य है; जिस विषय का साध्य अदृष्ट है, वहाँ शास्त्रविहित गणना का अधिकार स्वीकार करना होगा।

धर्मकर्म में गणना का प्रश्न “accuracy” का नहीं, “अधिकार” का है

यही इस पूरे विवाद का सबसे महत्वपूर्ण निष्कर्ष है।

यदि कोई गणना वर्तमान ग्रह को अत्यन्त सूक्ष्मता से बताती है, तो वह अपनी दृष्टि में अधिक accurate हो सकती है। किन्तु धर्मशास्त्रीय गणना के लिए हमें यह देखना होगा कि—

उस गणना को उस प्रयोजन में प्रमाण किसने बनाया?

मीमांसा में किसी साधन को एक विषय में प्रमाण मान लेने से वह दूसरे विषय का प्रमाण स्वतः नहीं बन जाता।

इसी प्रकार—

ग्रहण की प्रत्यक्ष घटना के लिए दृक्-गणना का उपयोग → तिथ्यादि में बीजसंस्कार की स्वतः ग्राह्यता सिद्ध नहीं करता।

और —

भौतिक ग्रहस्थिति की सूक्ष्मता → धर्मकर्मोपयोगी ग्रहस्थिति की शास्त्रीय प्रमाणिकता सिद्ध नहीं करती।

सूर्यनारायण को अर्घ्य और व्रत की तिथि—दोनों में एक ही गणना क्यों नहीं?

यह प्रश्न कभी-कभी उठाया जाता है कि यदि सूर्य एक ही है तो उसकी स्थिति के लिए दो गणनाएँ क्यों?

इसका उत्तर यही है कि **सूर्य एक होने पर भी प्रयोजन दो हो सकते हैं।**

जब साधक उदित सूर्यनारायण को अर्घ्य देता है, वह प्रत्यक्ष सूर्यगोलक को ही देखता है। वहाँ उसका व्यवहार प्रत्यक्ष है।

जब ग्रहण के समय सूर्यगोलक को देखकर ग्रहण का दर्शन करता है, वहाँ भी दृश्य सूर्य ही व्यवहार का विषय है।

लेकिन जब पञ्चाङ्गकार यह निर्णय करता है कि—

अमुक तिथि में अमुक व्रत किया जाएगा,

तब उसका प्रयोजन सूर्यगोलक को देखना नहीं, बल्कि शास्त्रविहित काल का निर्णय करना है।

अतः—

दृष्ट व्यवहार में दृष्ट ग्रह।

अदृष्ट-साधन में शास्त्रविहित सूक्ष्म गणना।

इसमें कोई विरोध नहीं है।

एक ही ग्रह के दो व्यवहार—विरोध नहीं, विषयभेद

अतः यह कहना कि—

“यदि सूर्यसिद्धान्तीय गणना ग्रहणीय है तो ग्रहण के समय आँख से दिखाई देने वाला सूर्य क्यों स्वीकार करते हैं?”

या—

“यदि दृक् ग्रह सही है तो व्रत के लिए दूसरी गणना क्यों?”

दोनों प्रश्न एक ही प्रकार के प्रमाण को मानकर पूछे गये हैं, जबकि विषय अलग हैं।

हमारे शरीर का उदाहरण पुनः यही समझाता है।

जब किसी ने पूछा—

“चक्षु कहाँ है?”

हम नेत्रगोलक दिखाते हैं।

जब दर्शनशास्त्र में पूछा—

“चक्षुरिन्द्रिय क्या है?”

तब उत्तर केवल नेत्रगोलक दिखाकर समाप्त नहीं होता।

उसी प्रकार—

जब पूछा जाए—

“ग्रह कहाँ दिखाई देता है?”

तब दृक्-ग्रह का उत्तर उचित है।

जब पूछा जाए—

“धर्मकर्मोपयोगी ज्योतिषीय गणना में ग्रह की स्थिति किस प्रकार ग्रहण करनी है?”

तब उत्तर शास्त्रीय गणना-पद्धति से देना होगा।

इसलिए सूर्यसिद्धान्तीय पञ्चाङ्ग का पक्ष क्या है?

सूर्यसिद्धान्तीय पञ्चाङ्गकार का पक्ष यह नहीं है कि आधुनिक वेध को नष्ट कर दिया जाए या astronomical science को अस्वीकार कर दिया जाए।

हमारा पक्ष यह है कि **हर साधन को उसके उचित विषय में रखा जाए।**

ग्रहण के प्रत्यक्ष दर्शन के लिए दृक् ग्रह स्वीकार किया जा सकता है। सूर्यनारायण को अर्घ्य देने के लिए प्रत्यक्ष सूर्यगोलक ही व्यवहार में आएगा। तत्काल दृश्य खगोलीय घटना का ज्ञान करना हो तो दृक्-गणना का अपना स्थान है।

किन्तु तिथि, व्रत, पर्व और अन्य अदृष्टफल-साधक धर्मकर्मों के लिए शास्त्र ने जिस गणना-पद्धति का निर्देश किया है, उसका अधिकार केवल इस आधार पर समाप्त नहीं किया जा सकता कि आधुनिक वेध किसी अन्य ग्रहस्थिति को अधिक निकटता से बताता है।

और विष्णुधर्मोत्तर का—

“ग्रहणादिपरीक्षेत न तिथ्यादिकदाचन”

विशेष रूप से यह सावधानी सिखाता है कि **वेधजन्य बीज का अधिकार सर्वत्र विस्तारित न किया जाए।**

भास्कराचार्य के “यात्राविवाहोत्सवजातकादौ खेटैः स्फुटैः” वचन का यथार्थ अभिप्राय

यहाँ दृक्-पक्ष की ओर से एक अत्यन्त प्रबल आपत्ति प्रस्तुत की जाती है। कहा जाता है कि स्वयं भास्कराचार्य ने स्पष्ट रूप से कहा है—

**यात्राविवाहोत्सवजातकादौ
खेटैः स्फुटैरेव फलस्फुटत्वम् ।
स्यात् प्रोच्यते तेन नभश्चराणां
स्फुटक्रिया दृग्गणितैक्यकृद्या ॥**

अर्थात् यात्रा, विवाह, उत्सव, जातक आदि में ग्रहों के स्फुट होने पर ही फल की स्पष्टता होती है और इसलिए ग्रहों की ऐसी स्फुटक्रिया करनी चाहिए जिससे वह दृग्गणित के साथ एकता प्राप्त करे।

दृक्-पक्ष इस वचन से यह निष्कर्ष निकालता है कि विवाह, यात्रा, जातक आदि के लिए सूर्यसिद्धान्तीय ग्रह को छोड़कर आधुनिक वेधसिद्ध ग्रह लेना ही भास्कराचार्य का अभिप्राय है और इसीलिए धर्मकृत्यों में भी दृक्-गणित ग्रहण किया जाना चाहिए।

किन्तु यही वह स्थान है जहाँ वचन के प्रयोजन, सन्दर्भ और “स्फुट” शब्द के अर्थ का सूक्ष्म विचार आवश्यक है।

सबसे पहले यह स्वीकार करना होगा कि भास्कराचार्य ने “स्फुट ग्रह” की आवश्यकता कही है। इसका निषेध करना न तो सम्भव है और न आवश्यक। विवाद यह है कि **भास्कराचार्य के “स्फुट” का अर्थ क्या है और उसके आधार पर किस प्रकार की गणना धर्मकृत्य में प्रमाण बनेगी।**

यही वह स्थान है जहाँ करपात्री जी की मीमांसात्मक स्थापना विशेष महत्त्व रखती है।

“स्फुट” का अर्थ केवल आधुनिक वेधसिद्ध ग्रह मान लेना आवश्यक नहीं

भास्कराचार्य की अपनी ग्रहसाधन-पद्धति में “स्फुट” कोई ऐसा शब्द नहीं है जिसका अर्थ केवल आधुनिक astronomical instrument से प्राप्त apparent longitude हो। सिद्धान्तशिरोमणि में मध्यम ग्रह को मन्दफल, शीघ्रफल आदि संस्कारों से संस्कृत करके स्फुट ग्रह की सिद्धि की जाती है। उसी ग्रन्थ में—

**स्यात् संस्कृतो मन्दफलेन मध्यो
मन्दस्फुटोऽस्माच्चलकेन्द्रपूर्वम् ।**

विधाय शैघ्येण फलेन चैवं

खेटः स्फुटः स्यादसकृत् फलाभ्याम् ॥

इस प्रकार “स्फुट” स्वयं सिद्धान्तीय गणितीय प्रक्रिया का पारिभाषिक पद है। भास्कराचार्य की पूरी स्पष्टक्रिया में मध्यम से संस्कारपूर्वक स्फुट ग्रह की सिद्धि का विधान है।

अतः केवल “स्फुट ग्रह” शब्द देखकर यह निष्कर्ष निकालना कि **“स्फुट = आधुनिक वेधशाला से प्राप्त ग्रहस्थान”**, एक अतिरिक्त स्थापना है; स्वयं शब्द से यह अर्थ अनिवार्यतः सिद्ध नहीं होता।

हाँ, भास्कराचार्य उसी अधिकार में “दृगगणितैक्य” की बात करते हैं, इसलिए यह भी सत्य है कि वे गणना को प्रत्यक्ष वेध के साथ साम्य की ओर ले जाने की बात कर रहे हैं। इस तथ्य को छिपाना उचित नहीं।

परन्तु इससे भी आगे एक दूसरा प्रश्न है—

क्या भास्कराचार्य के इस वचन से यह सिद्ध होता है कि वेधजन्य, निरूपपत्तिक अथवा चर बीजसंस्कार से परिवर्तित प्रत्येक ग्रहस्थिति को तिथि-व्रत-पर्व के धर्मनिर्णय में अनिवार्यतः स्वीकार करना चाहिए?

इसका उत्तर नहीं है।

“स्फुटग्रह” की स्वीकृति और “बीजसंस्कारित दृक्-ग्रह” की स्वीकृति एक बात नहीं

यहीं पूर्वोक्त विष्णुधर्मोत्तर-वचन पुनः निर्णायक हो जाता है—

यन्त्रवेधादिना ज्ञातं यद् बीजं गणकैस्ततः ।

ग्रहणादिपरीक्षेत न तिथ्यादिकदाचन ॥

यदि यन्त्रवेध से प्राप्त अन्तर को लेकर ग्रह को संस्कारित किया गया और उस संस्कार को तिथ्यादि में भी अनिवार्य रूप से लगा दिया जाए, तो यह वचन निष्प्रयोजन हो जाएगा।

अतः “स्फुट ग्रह” की आवश्यकता स्वीकार करने से यह सिद्ध नहीं होता कि वेध से प्राप्त प्रत्येक अन्तर को बीज बनाकर तिथ्यादि में डालना ही भास्कराचार्य का अभिप्रेत सिद्धान्त है।

यहाँ दो बातें पृथक् रखनी होंगी —

स्फुटता का सिद्धान्त — ग्रह को यथार्थ स्पष्ट स्थिति में ग्रहण करना।

और —

किस प्रकार की स्पष्टता धर्मकृत्य में प्रमाण है — यह पृथक् प्रश्न।

यही भेद करपात्री जी की मीमांसा का मूल बल है।

भास्कराचार्य के वचन को सूर्यसिद्धान्त-विरोधी मानना स्वयं भास्कराचार्य के व्यापक सिद्धान्त से असंगत है

यदि उक्त श्लोक का अर्थ यह कर लिया जाए कि —

“विवाह, यात्रा, उत्सव और जातक में आधुनिक दृक्-स्फुट ग्रह ही अनिवार्य हैं और शास्त्रीय सिद्धान्तीय ग्रह वहाँ ग्राह्य नहीं,”

तो फिर भास्कराचार्य के अपने ही सिद्धान्तग्रन्थ की सम्पूर्ण ग्रहसाधन-पद्धति का प्रयोजन संदिग्ध हो जाएगा।

क्योंकि उन्होंने स्फुट ग्रह की सिद्धि के लिए मध्यम ग्रह, मन्दफल, शीघ्रफल, चलकेन्द्र आदि की क्रमबद्ध सिद्धान्तीय प्रक्रिया दी है। उनके लिए “स्फुट” कोई वेधशाला में दिखाई दे जाने वाला एक स्वतंत्र coordinate मात्र नहीं है; वह **गणितीय संस्कार-प्रक्रिया से सिद्ध ग्रह** भी है।

इसलिए भास्कराचार्य के वचन को समझने का उचित मार्ग यह नहीं कि —

स्फुट = modern observed longitude

बल्कि पहले यह देखना होगा कि—

भास्कराचार्य के सिद्धान्त में स्फुटग्रह की सिद्धि कैसे होती है और उसके बाद “दृग्गणितैक्य” किस प्रयोजन से कहा गया है।

यहीं करपात्री जी का तर्क अधिक सूक्ष्म हो जाता है।

“दृग्गणितैक्य” को तिथ्यादि में सर्वत्र आरोपित करने पर उलटा दोष उत्पन्न होता है

मान लें कि दृक्-पक्ष भास्कराचार्य के—

“दृग्गणितैक्यकृद्या”

का अर्थ यह लेता है कि जहाँ भी कोई धर्मकर्म हो वहाँ वेधसिद्ध ग्रह ही ग्रहणीय है।

तब यही अर्थ सूर्यसिद्धान्त तथा अन्य सिद्धान्तग्रन्थों में प्रयुक्त—

दृक्तुल्यताम्

आदि पदों पर भी लागू करना पड़ेगा।

सूर्यसिद्धान्त में स्वयं ग्रहों के स्फुटीकरण का प्रयोजन इस प्रकार कहा गया है—

तत्तद्गतिवशान्नित्यं यथा दृक्तुल्यतां ग्रहाः ।

प्रयान्ति तत्प्रवक्ष्यामि स्फुटीकरणमादरात् ॥

अर्थात् ग्रहों को उनकी गति के अनुसार दृक्तुल्यता प्राप्त होने की प्रक्रिया बताने का उपक्रम किया जा रहा है।

अब यदि “दृक्तुल्यता” का अर्थ हर स्थान पर **आधुनिक वेधसिद्ध, बीजसंस्कारित ग्रह** ही मान लिया जाए, तो सूर्यसिद्धान्त की अपनी स्फुटीकरण-प्रक्रिया और उसके गणितीय विधान का अर्थ बदल जाएगा।

अतः करपात्री जी की ओर से यहाँ जो मूल मीमांसात्मक आपत्ति आती है, वह यह है कि **किसी एक स्थान पर “दृग्गणितैक्य” को लेकर ऐसा अर्थ नहीं बनाया जा सकता जो उसी पदावली के अन्य शास्त्रीय प्रयोगों से असंगत हो।**

इससे भी बड़ा प्रश्न—भास्कराचार्य ने “यात्राविवाहोत्सवजातकादि” क्यों कहा?

यहाँ श्लोक के पदक्रम पर ध्यान देना चाहिए—

यात्रा-विवाह-उत्सव-जातकादौ

और फिर—

खेटैः स्फुटैरेव फलस्फुटत्वम्।

अर्थात् प्रसंग **फलस्फुटत्व** का है—ग्रहों की स्पष्टता से फल की स्पष्टता।

इसका सीधा आशय यह नहीं कि—

“धर्मशास्त्र में तिथि निर्धारित करने की मूल गणना-पद्धति अब बदल गयी।”

यहाँ भास्कराचार्य ग्रहों की स्पष्टता और उनके आधार पर प्राप्त फल की स्पष्टता का सम्बन्ध स्थापित कर रहे हैं।

इसीलिए करपात्री जी की व्याख्या में इस वचन को सूर्यसिद्धान्तीय गणना का प्रतिषेध मानना आवश्यक नहीं है। बल्कि यह कहा जा सकता है कि—

जहाँ शास्त्रीय फल ग्रह की स्पष्ट स्थिति पर आश्रित है, वहाँ ग्रह को स्फुट रूप में लेना चाहिए; किन्तु स्फुटता का अर्थ यह नहीं कि शास्त्रविहित धर्मकृत्य के गणितीय आधार को किसी अन्य गणना से स्वतः प्रतिस्थापित कर दिया जाए।

अन्यथा एक अत्यन्त असंगत परिणाम उत्पन्न होगा

यदि भास्कराचार्य के इस श्लोक का अर्थ यह हो कि विवाहादि में दृक्-ग्रह और धर्मकर्म में सूर्यसिद्धान्तीय ग्रह — दो अलग-अलग ग्रहभोग लिये जाएँ, तो पञ्चाङ्ग में एक ही दिन के लिए दो पृथक् तिथियाँ, दो पृथक् ग्रहभोग और दो पृथक् गणनाएँ अपेक्षित होंगी।

परम्परागत सौरपक्षीय पञ्चाङ्ग-व्यवहार में ऐसा कोई सार्वत्रिक द्वैत नहीं दिखाई देता।

यात्रा, विवाह, जातक आदि के लिए ग्रहों का फल-विचार किया जाता है, और धर्मकर्म में तिथ्यादि का विचार भी किया जाता है; किन्तु इससे यह आवश्यक नहीं होता कि प्रत्येक प्रयोजन के लिए दो पृथक् astronomical universes बना दिये जाएँ।

अतः “भास्कराचार्य ने विवाह कहा है, इसलिए विवाह में आधुनिक दृक्-ग्रह और व्रत में सूर्यसिद्धान्तीय ग्रह” — यह निष्कर्ष श्लोक से अनिवार्यतः नहीं निकलता।

स्वयं भास्कराचार्य के यहाँ बीजसंस्कार का प्रश्न भी इसको सरल नहीं रहने देता

यह भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि भास्कराचार्य स्वयं बीज और संस्कार की परम्परा से पूर्णतः अपरिचित नहीं थे। उनके नाम से बीजोपनयन सम्बन्धी ग्रन्थ और करणकुतूहल आदि में बीजविषयक सामग्री का उल्लेख मिलता है; सिद्धान्तशिरोमणि के पाठ में भी ग्रह-स्फुटीकरण और वेध के सम्बन्ध का विस्तृत विवेचन है।

इसलिए “भास्कराचार्य = किसी भी वर्तमान वेध से मिला अन्तर = तिथि में अनिवार्य बीजसंस्कार” — ऐसा समीकरण बनाना ऐतिहासिक और गणितीय दोनों दृष्टियों से अत्यन्त सरलकरण होगा।

बीज का होना, बीज का शास्त्रीय होना, उसकी उपपत्ति, उसकी कालानुकूलता, और उसका किस प्रयोजन में प्रयोग होना चाहिए — ये सभी अलग-अलग प्रश्न हैं।

निर्णायक मीमांसा : भास्कराचार्य का वचन हमारे पक्ष को नष्ट नहीं करता

अतः भास्कराचार्य के वचन का उचित खण्डन यह नहीं कि—

“भास्कराचार्य ने दृक् की बात कही ही नहीं।”

ऐसा कहना पाठ के प्रत्यक्ष शब्दों के विरुद्ध होगा।

बल्कि हमारा अधिक सुदृढ़ उत्तर यह है—

भास्कराचार्य ने स्फुट ग्रह की आवश्यकता कही है; उन्होंने दृग्गणितैक्य की दिशा में स्फुटक्रिया कही है; परन्तु इस वचन से यह स्वतः सिद्ध नहीं होता कि आधुनिक वेधजन्य, किसी भी प्रकार के बीजसंस्कारित ग्रह को तिथ्यादि धर्मनिर्णय में अनिवार्य प्रमाण मान लिया जाए।

दूसरे शब्दों में—

स्फुटता का स्वीकार $\neq$ आधुनिक दृक्-पद्धति का सर्वत्र प्रमाणत्व।

और—

दृग्गणितैक्य का स्वीकार $\neq$ विष्णुधर्मोत्तर-विरुद्ध बीजसंस्कार का तिथ्यादि में अनधिकृत प्रयोग।

यही भास्कराचार्य-वचन का वास्तविक समाधान है।

अर्थात् भास्कराचार्य का यह वचन—

“यात्राविवाहोत्सवजातकादौ खेटैः स्फुटैरेव फलस्फुटत्वम्”

सूर्यसिद्धान्तीय ग्रहस्फुटता के सिद्धान्त का निषेध नहीं, बल्कि **फल के लिए ग्रह की स्पष्ट स्थिति की आवश्यकता** का प्रतिपादन है।

यदि कोई इसे आधुनिक दृक्-पद्धति के सर्वव्यापी धार्मिक प्रमाण के रूप में प्रस्तुत करता है, तो उसे पहले यह सिद्ध करना पड़ेगा कि—

1. भास्कराचार्य के “स्फुट” का अर्थ केवल आधुनिक वेधसिद्ध ग्रह है;
2. “दृग्गणितैक्य” का अर्थ प्रत्येक परिस्थिति में वेधजन्य बीजसंस्कारित ग्रह है;
3. विष्णुधर्मोत्तर का “न तिथ्यादिकदाचन” किस प्रकार निरस्त होता है;

4. “अदृष्टफलसिद्ध्यर्थं यथार्कगणितम्” का निर्णयसिन्धु-वचन किस प्रकार निष्प्रभावी होता है;
5. और स्वयं सूर्यसिद्धान्त की तिथ्यादि-गणना का प्रयोजन फिर किस प्रकार समझा जाएगा। जब तक ये पाँचों प्रश्न हल नहीं होते, केवल—

“यात्राविवाहोत्सवजातकादौ खेटैः स्फुटैरेव...”

उद्धृत करके सम्पूर्ण धर्मकृत्य-गणना को आधुनिक दृक्-पद्धति के अधीन कर देना मीमांसात्मक रूप से सिद्ध नहीं होता।

निष्कर्ष : दृश्य गोलक का व्यवहार और सूक्ष्म ज्योतिषीय गणना का अधिकार

अतः इस पूरे विषय को भारतीय परम्परा के अनुरूप समझने के लिए **गोलक और सूक्ष्म सत्ता, दृष्ट और अदृष्ट, तथा व्यवहार और तत्त्व**— इन तीनों भेदों को साथ रखना आवश्यक है।

दृश्य सूर्य, चन्द्र अथवा शुक्र का जो भौतिक गोलक हमें आकाश में दिखाई देता है, वह अपने दृश्य व्यवहार में वास्तविक है। ग्रहण का दर्शन करना हो, ग्रहण के समय सूर्य या चन्द्र को देखना हो, सूर्यनारायण को अर्घ्य देना हो अथवा किसी तात्कालिक दृश्य घटना का ज्ञान करना हो— वहाँ उसी प्रत्यक्ष गोलक का ग्रहण किया जाना चाहिए। वहाँ दृक्-गणना का अधिकार है, क्योंकि साध्य ही दृष्ट घटना है।

किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि वही दृश्य गोलक धर्मकर्म के अदृष्टफल-साधक ज्योतिषीय निर्णय का सम्पूर्ण प्रमाण भी है। जिस प्रकार नेत्रगोलक को व्यवहार में “चक्षु” कहा जाता है, परन्तु चक्षुरिन्द्रिय की सूक्ष्म सत्ता को केवल स्थूल गोलक के बराबर नहीं माना जाता, उसी प्रकार ग्रह के दृश्य गोलक और धर्मकर्मोपयोगी ज्योतिषीय ग्रहस्थिति के बीच भी विषयभेद का विचार किया जाना चाहिए।

भौतिक वेध स्थूल दृश्य ग्रहगोलक का ज्ञान करा सकता है; किन्तु शास्त्रविहित धर्मकर्मोपयोगी सूक्ष्म ग्रहगणना का प्रमाण केवल भौतिक वेध से स्वतः सिद्ध नहीं होता।

अतः जहाँ **दृश्यता ही प्रयोजन है**, वहाँ दृक् ग्रहणीय है।

जहाँ **अदृष्टफल-साधक धर्मकर्म का निर्णय है**, वहाँ शास्त्रविहित गणना का अधिकार है।

और जब सूर्यसिद्धान्त स्वयं तिथि, करण, उद्वाह, व्रत, उपवास आदि के लिए चान्द्रमान का व्यवहार निर्दिष्ट करता है; विष्णुधर्मोत्तर वेधजन्य बीज को ग्रहणादि की परीक्षा तक स्वीकार करके तिथ्यादि में उसके प्रयोग का निषेध करता है; तथा परम्परागत निर्णयग्रन्थ दृष्ट और अदृष्ट प्रयोजन के अनुसार गणना का विभाग करते हैं, तब आधुनिक दृक्-संवादिता के नाम पर उस समस्त विषय-विभाग को एक कर देना **न तो आवश्यक है और न ही स्वतः शास्त्रसम्मत सिद्ध होता है।**

इसलिए सूर्यसिद्धान्तीय पञ्चाङ्ग का मूल सिद्धान्त यह होना चाहिए—

दृश्य ग्रह का व्यवहार दृष्ट प्रयोजन में; शास्त्रविहित सूक्ष्म ग्रहगणना का व्यवहार अदृष्ट-साधन में।

ग्रहण-दर्शन में प्रत्यक्ष गोलक; सूर्यनारायण के अर्घ्य में प्रत्यक्ष सूर्य; किन्तु नित्य तिथ्यादि और अदृष्टफल-साधक धर्मकृत्यों में शुद्ध, बीजसंस्काररहित सूर्यसिद्धान्तीय गणना।

और यही भेद हमें यह समझने में सहायता देता है कि “**दृक् से दिखाई देना**” और “**धर्मकर्म के लिए शास्त्रतः प्रमाण होना**”—ये दोनों समानार्थक नहीं हैं।